RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452 Raaso
Refreed Journal

रासो

अन्तर्विषयी त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17, अंक-2, मार्च अप्रैल मई 2024

रासो
त्रैमासिक शोध पत्रिका
2005
॥ स्वस्ति पन्थामनु चरेम् ॥

RNI No. RAJHIN/2007/26996
ISSN 0976-7452Raaso
Refreed Journal

रासो

इतिहास, संस्कृति, साहित्य एवं दर्शन की त्रैमासिक शोध पत्रिका

वर्ष-17 | अंक - 2 | मार्च-अप्रैल-मई-2024

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

निदेशक
कॉम्पिटिशन प्लस संस्थान, ग्रुप ऑफ इन्स्टिट्यूशन्स, अजमेर (राजस्थान)

संरक्षक

* **प्रो. जे. पी. शर्मा** – पूर्व कुलपति, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर (राजस्थान)

सलाहकार मण्डल

* **प्रो. विभा उपाध्याय** – प्रोफेसर, इतिहास एवं भारतीय संस्कृति विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राज.)
* **नर्मदा प्रसाद उपाध्याय** – प्रसिद्ध साहित्यकार तथा संस्कृति चिंतक, इन्दौर (मध्य प्रदेश)
* **प्रो. टी.के. माथुर** – पूर्व अध्यक्ष, इतिहास विभाग महर्षि दयानन्द सरस्वती विश्वविद्यालय, अजमेर (राज.)
* **डॉ. रमेश अग्रवाल** – पूर्व स्थानीय सम्पादक, दैनिक भास्कर, अजमेर (राजस्थान)
* **डॉ. गौरव बिस्सा** – सहआचार्य, विभागाध्यक्ष, प्रबंध अध्ययन विभाग, राजकीय अभियांत्रिकी महाविद्यालय, बीकानेर (राज.)
* **डॉ. बीना शर्मा** – पूर्व विभागाध्यक्ष, हिन्दी विभाग, सावित्री कन्या महाविद्यालय, अजमेर
* **प्रो. शोभा आर. मिश्रा** – आचार्य एवं विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, माधव महाविद्यालय, उज्जैन
* **डॉ. वेद प्रकाश विद्यार्थी** – पूर्व सहायक निदेशक, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, नई दिल्ली।

☆ उप सम्पादक

डॉ. रीता पारीक

प्राचार्य

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ प्रबन्ध सम्पादक

डॉ. मृत्युंजय शर्मा

सह-आचार्य

हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

☆ सहायक सम्पादक

डॉ. निष्काम शर्मा

☆ शब्द संयोजन

मुकेश कुमार माहेश्वरी

☆ सम्पादकीय/सचिव
व्यवस्थापकीय कार्यालय

सृजन संस्थान,
आचमन, वेद विहार,
लोहाखान, अजमेर-06
दूरभाष : 0145-2426610
e-mail : rasoajmjournal@gmail.com

☆ प्रकाशक :

पुष्पा शर्मा
सृजन संस्थान,
द्वारा आचमन पब्लिकेशन्स,
अजमेर

☆ मुद्रक :

मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स,
केसरगंज, अजमेर

☆ कम्प्यूटराइज्ड सेटिंग :

श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स
132, पंचवटी कॉलोनी,
अजमेर दूरभाष : 0145-2442701

सहयोग दर

* वार्षिक सदस्यता - 500 रु. (चार अंक) संस्थाओं हेतु - 600 रु. (चार अंक)
कृपया चैक/ड्राफ्ट/मनीऑर्डर श्रीमती पुष्पा शर्मा, प्रकाशक, आचमन पब्लिकेशन्स, अजमेर- 305006 के नाम भेजें।

प्रकाशक-श्रीमती पुष्पा शर्मा, 51/1509, वेद विहार, लोहाखान, अजमेर द्वारा मैसर्स सृजन संस्थान, अजमेर की ओर से प्रकाशित एवं मुद्रक-श्रीमती उषा गर्ग द्वारा मैसर्स आर्य प्रिन्टर्स, केसरगंज, अजमेर से मुद्रित।

वैदिक राष्ट्रवाद में मातृभूमि वन्दना के प्रमुख तत्वों का विशलेषण

कमलेश कुमार अटल
सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)
हुकुमचन्द नोबल इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

'राष्ट्र' शब्द का मूल संस्कृत धातु-विश्लेषण दर्शाता है कि यह विशुद्ध वैदिक संकल्पना का शब्द है। सिद्धान्त कौमुदी के अनुसार 'राज्' धातु से ''उणादि'' सूत्र– 'सर्वधातुभ्य: ष्ट्रन्' की सहायता से जब 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगाया जाता है तो 'राष्ट्र' शब्द की सिद्धि होती है। इस धातु के पीछे दो भाव निहित माने गए– एक, 'राज्' धातु में 'शोभा' का भाव; दूसरा, 'संरक्षण' का भाव। अत: 'राष्ट्र' शब्द वह है जो शोभन (उन्नत, समृद्ध) हो तथा जिसका संरक्षण (व्यवस्था) किसी सत्ता से जुड़ा हो।

व्युत्पत्तिगत अर्थ का विस्तार करते हुए ग्रन्थकारों ने यह भी कहा कि जिस भू-भाग में जनसमूह किसी भाषा, परम्परा तथा व्यवहार के माध्यम से विचार-विनिमय करता हो, वही राष्ट्र होता है। भाषा यहाँ केवल बोलचाल का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एकता का संचालक है। यह एक सामाजिक-धार्मिक चिन्ह बन जाती है।

दूसरी व्युत्पत्ति में 'राष्ट्र' शब्द के अर्थ में 'सम्पत्ति, समृद्धि और शोभा' का भाव जोड़ा गया है। पशु, धान्य, हिरण्य आदि से सुसम्पन्न भू-भाग– केवल भौतिक नहीं– बल्कि कृषि, अर्थ-व्यवस्था और श्रम-शक्ति का प्रतीक बनकर राष्ट्र का रूप लेता है। यहाँ 'राष्ट्र' केवल भूमि-खंड नहीं, बल्कि 'जीवन-संस्थान का समूह' है।

मनुस्मृति में राष्ट्र शब्द का प्रयोग देश अथवा प्रदेश-विशेष के अर्थ में हुआ है। मनु समाज के आचार-विचार और वर्णदूषण की चेतावनी देकर कहते हैं कि जिस राष्ट्र में धर्म-संस्कृति को नाश करने वाली शक्तियाँ सक्रिय हो जाती हैं, वह राष्ट्र शीघ्र नष्ट हो जाता है। यह राष्ट्र की सांसारिक सत्ता ही नहीं, नैतिक सत्ता को भी महत्व देता है।

एतरेय-ब्राह्मण में राष्ट्र को प्रजा के साथ जोड़ा गया। यहाँ राष्ट्र वह है जिसमें लोग– विश:– स्वामी के प्रति सहज श्रद्धा रखते हों। यह आत्मतत्व और निष्ठा को राष्ट्र का भावात्मक आधार बताता है। यह राष्ट्रवाद का सर्वोच्च मानवीय स्वर है।

ऋग्वेद में 'राष्ट्र' का प्रयोग अत्यंत स्पष्ट रूप में मिलता है, जहाँ राष्ट्र को ''क्षत्र'' अर्थात् संरक्षणकारी राज्य-सत्ता से जोड़ा गया है। इन्द्र के राज्य-वर्धक रूप और वरुण के ''राष्ट्र-स्वामी'' रूप का उल्लेख यह साबित करता है कि वैदिक युग में राष्ट्र की संकल्पना केवल भूगोल नहीं थी, बल्कि राजनीतिक-सामाजिक

शोध-पत्र में उल्लिखित सन्दर्भ एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी है, सम्पादक नहीं।

सत्ता भी थी।

यजुर्वेद के राज्याभिषेक-मन्त्र– ''राष्ट्रमे देहि'' में राजा के द्वारा राष्ट्र-प्राप्ति की उत्कट भावना, वैदिक राष्ट्रवाद का राजनीतिक रूप उभरकर आता है। राजा की सत्ता राष्ट्र से आती है और राष्ट्र का वैभव राजा के कर्तव्य से निर्मित होता है।

अथर्ववेद में राष्ट्र-वर्धन के लिए पुरोहित से 'अभिवर्तन मणि' बाँधने की प्रार्थना– यह राष्ट्र-शक्ति का दैवी-आशीर्वाद स्वरूप है। यहाँ शक्ति-संचार, रक्षा और उन्नति राष्ट्र के दैविक और लौकिक संयोग को प्रकट करते हैं।

आधुनिक अर्थ की तुलना में 'नेशन' शब्द की व्युत्पत्ति 'नेटस' से 'जन्म' अथवा 'उत्पत्ति' अर्थ के साथ बताई गई। जबकि संस्कृत 'राष्ट्र' का आधार केवल जन्म या जातीयता नहीं, बल्कि संस्कृति-सापेक्ष एकात्मता है। यह राष्ट्रवाद को जातीय के बजाय सभ्यता आधारित बनाता है।

हिन्दी कोशों में राष्ट्र को भाषा-समूह, रीति-रिवाज, विचारधारा और शासन में रहने वाले समूह के रूप में परिभाषित किया गया। यह वैदिक दृष्टि की आधुनिक पुनर्संरचना है, जिसमें सांस्कृतिकता, भाषिकता और राजनीतिकता तीनों का संगम दिखता है।

आधुनिक वैदिक कवि वाग्भवाचार्य की परिभाषा– ''समान संस्कृतिमता यावती पितृपुण्यभूः'' इसी सांस्कृतिक राष्ट्रवाद को अत्यंत स्पष्ट करती है। भूमि का पुण्य और संस्कृति का एकत्व दोनों राष्ट्र के आधार स्तम्भ बनकर सामने आते हैं।

वेद-प्रतिपादित राष्ट्र-तत्त्व

वेदों में राष्ट्र की जो संकल्पना प्रस्तुत होती है, वह केवल भूमि-खंड, केवल जन-समूह या केवल संस्कृति के लिए प्रयुक्त नहीं है; बल्कि ये तीनों तत्त्व मिलकर राष्ट्र का स्वरूप पूर्ण बनाते हैं। वैदिक विचारधारा में राष्ट्र एक जीवित चेतना है, जिसमें भूमि, जन, संस्कृति तथा धर्म–चारों का आध्यात्मिक-सांस्कृतिक एकत्व प्रकट होता है। मातृभूमि के प्रति श्रद्धा, प्रेम और भक्ति ही राष्ट्रवाद का शुद्धतम स्वरूप है।

राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्तिक भावना ''राजते तत् राष्ट्र'' जो शोभमान है, जो स्वकीर्ति यश से चमकता है– अर्थात् राष्ट्र का आधार आभास-केन्द्रित नहीं, यश-केन्द्रित है। जो समाज-समूह अपने परिश्रम, संगठन, नैतिक शक्ति और सांस्कृतिक उत्कर्ष के द्वारा दूसरों को आकर्षित करे, वही राष्ट्र कहलाने योग्य है; विस्तार और विशालता राष्ट्र का मापदण्ड नहीं, उसकी तेज, ओज और यश ही राष्ट्रत्व का वास्तविक प्रमाण है। अतः वैदिक राष्ट्रवाद में आन्तरिक उत्कृष्टता का भाव ही सर्वोपरि है।

वेदों की दृष्टि से वह राष्ट्र राष्ट्र कहलाने का अधिकारी नहीं है जो केवल भू-भाग का नाम है। राष्ट्र को केवल भौगोलिक-राजनीतिक इकाई समझना वैदिक भावना के विरुद्ध है। भूमि को यश, आचार और संस्कृति से अलंकृत करने पर ही वह ''राष्ट्र'' होती है। अतः वेद-प्रतिपादित राष्ट्रवाद दिव्य-मानसिकता का विषय है, न कि मात्र शासन-सत्ता का।

वैदिक मन्त्र ''वयं राष्ट्रं जागृयाम'' में राष्ट्र को जागृत करने की स्पष्ट प्रेरणा है। इसका अर्थ है राष्ट्र स्थिर वस्तु नहीं, उसे चेतना, कर्म, धर्म और पराक्रम द्वारा निरंतर उन्नत रखना आवश्यक है। वैदिक

वाङ्मय इस तथ्य का प्रमाण है कि राष्ट्र-वर्धन वैदिक जीवन का केन्द्रीय लक्ष्य रहा। ''राष्ट्र दासत्'', ''राष्ट्रम्मे दत्त स्वाहा'' जैसे उच्चारण राष्ट्रप्राप्ति और राष्ट्रसमृद्धि की तीव्र अभिलाषा का परिचायक हैं।

वेदों में राष्ट्र का स्वरूप भारत-भूमि के समान विशाल है, किन्तु उस विशालता को वर्तमान भौगोलिक नाप से न जोड़ा जाए। वेद-कालीन राष्ट्र की सीमाएँ यश, धर्म और संस्कृति की सीमाएँ थीं, न कि केवल भौगोलिक। राष्ट्र की सत्ता 'क्षेत्र' नहीं, ''क्षत्र'' अर्थात् नैतिक-रक्षण और सामर्थ्य से जुड़ी है। इसीलिए राष्ट्र को ''राज्य'' और ''साम्राज्य'' का भाव भी प्राप्त होता है।

वेदों से ही हमें मातृभूमि का दिव्य भाव मिलता है। जन्मभूमि के लिए माता-पिता का सम्बोधन, पृथ्वी और द्यौः की संयुक्त सत्ता— यह राष्ट्रवाद का आध्यात्मिक आयाम है। ''माता पृथिवी'' का उद्घोष केवल काव्यिक भाव नहीं, बल्कि सांस्कृतिक-राजनीतिक एकत्व का सूत्र है। मातृभूमि केवल पालनकर्ता नहीं, बल्कि राष्ट्र-बल, राष्ट्र-ओज और राष्ट्र-तेज की प्रेरणास्रोत है।

अथर्ववेद के मन्त्र— ''सा नो भूमिः त्विषि बलं राष्ट्र दधातु''मातृभूमि से राष्ट्र-बल, राष्ट्र की महत्ता और पराक्रम की आकांक्षा का विधान करते हैं। यह स्पष्ट करता है कि राष्ट्रवाद वैदिक दृष्टि में भक्ति और पराक्रम दोनों का संगम है।

वैदिक कवि राष्ट्र का स्वरूप जनसमूह के समन्वय से निर्मित बताते हैं। समाज के पाँचों वर्गों— ब्राह्मण से लेकर निषाद तक— को राष्ट्र की वृद्धि में समान भागी मानना, वैदिक राष्ट्रवाद की समावेशी लोकतांत्रिक भावना का अद्‌भुत प्रमाण है। राष्ट्र का नायक ''पाञ्चजन्य'' अर्थात् पाँचों वर्गों के कल्याण का इच्छुक— कहा गया है। ऋग्वेद का यह सन्देश यह दर्शाता है कि राष्ट्र का यश तब बढ़ता है जब नेता समाज के प्रत्येक घर में पहुँचता है, जाति-भेद या वर्ग-भेद की संकीर्णता राष्ट्र को नष्ट करती है, जबकि सहयोग और आत्मीयता राष्ट्र निर्माण के आधार हैं।

राष्ट्र-समृद्धि की कामना पुरोहित द्वारा राजा के लिए की गई— ''मा त्वद्राष्ट्रम् अधि भ्रशत'' राष्ट्र को दुर्भावना, दुर्बलता तथा विघ्न से मुक्त रखने की प्रार्थना है। यहाँ राष्ट्र की सुरक्षा आध्यात्मिक और लौकिक दोनों स्तरों पर समझी गई।

अथर्ववेद में ''राष्ट्रभृत'' देवताओं से राष्ट्र के धारण और रक्षण की याचना— वैदिक राष्ट्रवाद के दैवी सत्ता-आधारित सिद्धान्त को दृढ़ करती है। राष्ट्र देवत्व-संरक्षित व्यवस्था है।

ब्राह्मण, उपनिषद् एवं आरण्यकों में राष्ट्र

वेदों के पश्चात् वैदिक साहित्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण चरण 'ब्राह्मण-ग्रन्थ' हैं। इनमें यज्ञीय दर्शन के साथ-साथ सामाजिक संगठन, शासन-व्यवस्था, राष्ट्र-चेतना तथा राजकीय अधिकार-धारण के सूत्र स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। ब्राह्मण-युग तक पहुँचते-पहुँचते राष्ट्र केवल यश-चेतना का आध्यात्मिक संकल्प न रहकर एक व्यवस्थित राजनीतिक-सामाजिक रूप ग्रहण करने लगा था।

ब्राह्मण-काल में राष्ट्र की अस्तित्वगत मान्यता :- ब्राह्मण-ग्रन्थों में ''राष्ट्र'' शब्द के प्रयोग से सिद्ध होता है कि यह अवधारणा वैदिक काल से चली आ रही थी। ब्राह्मण-युग में अलग-अलग जन-राष्ट्र, जनपद, कबीलों और राज्यों की सूचना मिलती है। प्रारम्भ में शासन-व्यवस्था एकरूप नहीं थी; किन्तु बहुविध सामाजिक-संघटन के फलस्वरूप महाजनपदों की नींव का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था। राजा, पुरोहित,

श्रेणी-व्यापारी, बल-रक्षक तथा ग्राम-संघ-सब मिलकर राष्ट्र-व्यवस्था को विकसित कर रहे थे।

शांखायन और शतपथ ब्राह्मण में राष्ट्र की संकल्पना :- शतपथ ब्राह्मण में एक घूमते हुए ग्राम-संघ का वर्णन ''शयति मानव'' सहित मिलता है। इससे प्रारम्भिक काल में कुछ जनसमूहों के कबीलाई रूप का संकेत मिलता है। यही कबीले बाद में स्थायी राष्ट्ररूप में परिवर्तित हुए। यदु, पुरु, दुहयु आदि जन—वैदिक काल के भ्रमणशील समाज—बाद में अधिक सुव्यवस्थित राजकीय आकार में विद्यमान दिखाई देते हैं। इससे ब्राह्मण-काल संक्रमण की उस अवस्था को व्यक्त करता है जहाँ भ्रमणशील जमात से राज्य-राष्ट्र का रूप विकसित हो रहा था।

ऐतरेय ब्राह्मण में स्थायी राज्य और शासन-संरचना :- ऐतरेय ब्राह्मण तक आते-आते राष्ट्र स्पष्ट रूप में स्थायी राज्य-संरचना के साथ प्रकट होता है। यहाँ जनमेजय और सुदास जैसे राजाओं का उल्लेख मिलता है। साथ ही, इन शासकों के पास सक्षम पुरोहित—वशिष्ठ अथवा विश्वामित्र का होना दर्शाता है कि आध्यात्मिक-राजनीतिक द्वैत-तन्त्र राष्ट्र-व्यवस्था का मूल आधार था। यह संगठन राष्ट्रवाद का अस्थायी रूप नहीं, बल्कि सामाजिक-धार्मिक उत्तरदायित्व था।

राजसूय, वाजपेय तथा अश्वमेध-यज्ञों का विधान केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं, बल्कि राजनीतिक सार्वभौमाधिकार घोषित करने का माध्यम था। इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र-चेतना का आधार—धर्म, शक्ति, प्रतिष्ठा, और राजकीय स्वायत्तता—सब आपस में एकीकृत थे।

ऐतरेय और कौशीतकि ब्राह्मण में प्रयुक्त राजन्, सम्राट्, महाराज, ग्राम्यपति, गृह्यति आदि पदनामों से पता चलता है कि राष्ट्र-रूप व शासन का वर्गीकरण और कार्य-निर्धारण युग के भीतर विकसित हो चुका था।

समृद्ध-राष्ट्र की कल्पना :- शतपथ ब्राह्मण में राष्ट्र को ''अपरिमित समृद्ध'' कहा गया है। इससे यह धारणा पुष्ट होती है कि राष्ट्र केवल क्षेत्राधिकार नहीं, बल्कि समृद्धि के सामर्थ्य का बोधक था। समृद्धि का अर्थ था—धन, यश, बल, कर्म-शक्ति और जन-कल्याण।

शतपथ ब्राह्मण राष्ट्र के लिए ''सांनाय्य'' का रूपक उपयोग करता है। यह रूपक अत्यन्त दार्शनिक है:

दूध और दही का मिलना राष्ट्र-एकता का प्रतीक है; कभी वे मिलते हैं, तो एक राष्ट्र बनता है; कभी नहीं मिलते, तो विभाजन होता है। यह रूपक दर्शाता है कि सामाजिक-राष्ट्र निर्माण सहसंयोग पर आधारित है।

उपनिषद और राष्ट्र :- उपनिषदों में प्रत्यक्ष रूप में राजनीतिक राष्ट्र का विवरण सीमित है; किन्तु राष्ट्र-चेतना का आध्यात्मिक आधार यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है।

उपनिषद् मनुष्य को ''सेवा, त्याग, सत्य, आत्मीयता और समभाव'' के गुणों से युक्त बनाने का प्रयत्न करते हैं; यही गुण राष्ट्र की नैतिक संरचना का मूल हैं। ''वसुधैव कुटुम्बकम्''कथन यद्यपि उत्तर-वैदिक स्मृति-ग्रन्थों में मिलता है, उसका मूल भाव उपनिषद् के 'सर्वात्मभाव' में अन्तर्निहित है।

उपनिषद् राष्ट्रीयता को आत्मीयता का विस्तार समझते हैं—जहाँ व्यक्तित्व सीमित नहीं रहता, बल्कि

समुदाय, समाज, जन और राष्ट्र एक ही भाव में अभिव्यक्त होते हैं।

आरण्यकों में राष्ट्र :– आरण्यक साहित्य यज्ञीय रूप से उपनिषद् दार्शनिकता के निकट है। यद्यपि इनमें राष्ट्र-शब्द का प्रत्यक्ष प्रयोग कम है, किन्तु राष्ट्र की संरक्षण-शक्ति का आधार–तप, त्याग, संयम और ज्ञान इसी साहित्य में विकसित होता है।

ब्राह्मण-ग्रन्थ राष्ट्र के भौतिक स्वरूप को दिखाते हैं, उपनिषद राष्ट्र के आध्यात्मिक आधार को देते हैं, और आरण्यक राष्ट्र को नैतिक-धार्मिक शक्ति प्रदान करते हैं।

ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक काल में राष्ट्र की रूपरेखा, वैदिक सभ्यता की निरन्तर विकासमान प्रक्रिया का परिणाम है। प्रारम्भिक वेदकाल में जब मानव समुदाय भटकने वाले गोत्रों और जनों के रूप में चलता था, तब तक राष्ट्र की स्थिर संकल्पना स्पष्ट नहीं थी। जैसे- यदु, पुरु, दुह्य आदि जन-समूह बिना किसी निश्चित प्रदेश के भ्रमणशील रूप में विचरण करते थे। धीरे-धीरे सामाजिक संगठन, ग्राम-व्यवस्था, पुरोहित नेतृत्व और युद्ध-रक्षा नीति के कारण ये जन-समूह एक स्थायी स्वरूप ग्रहण करने लगे और एक निश्चित भूमि, शासन-संगठन और सांस्कृतिक परम्परा के आधार पर राष्ट्र की परिकल्पना प्रकट होने लगी।

शांखायन ब्राह्मण में यह संकेत मिलता है कि उस समय ग्राम अपने प्रमुख नेता के साथ चलता था। इसका अर्थ यह नहीं कि केवल एक व्यक्ति सबका स्वामी था, बल्कि इस समय समूह-नेतृत्व का आधार तो था, पर शासन सामूहिक सहमति पर आधारित था। जब कहा गया कि 'शयति ह वा इदं मानवो ग्रामेण चचार', तो यह स्पष्ट होता है कि ग्राम संगठन और नेता दोनों साथ-साथ जीवन की दिशा तय करते थे। इसी रूप से धीरे-धीरे भ्रमणशील जीवन राष्ट्र का ठोस रूप ग्रहण करता है। स्थायी ग्राम, कृषि और सुरक्षा के लिए संगठित व्यवस्था ने राजनीतिक रूप को जन्म दिया।

ऐतरेय ब्राह्मण के समय तक राष्ट्र पूर्ण रूप से स्थापित हो चुके थे। जनमेजय और सुदास जैसे राजाओं का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, और इनके साथ पुरोहित के रूप में विश्वामित्र और वशिष्ठ की उपस्थिति बताती है कि शासन धार्मिक, सांस्कृतिक और प्रशासनिक धुरी पर टिकाया गया था। यदि पुरोहित शासन के मार्गदर्शक न होते और धर्म (ऋत) शासन का मूल न होता, तो सत्ता का संचालन केवल बलभरा रहता। इस काल में धर्म शासन का अधिष्ठान था और राष्ट्र धर्माधारित, न्यायनिष्ठ, लोककल्याणकारी व्यवस्था बनता गया।

इस काल में राजसूय, वाजपेय और अश्वमेध यज्ञों का वर्णन यह प्रमाणित करता है कि राज्याधिकार केवल युद्ध से प्राप्त नहीं होते, वरन् राजसूय रूपी अभिषेक के माध्यम से समाज की स्वीकृति प्राप्त करनी होती थी। अत: राजसत्ता में लोक-सहमति तथा पुरोहित की मान्यता समान रूप से आवश्यक थी। राजा तभी राजा होता है जब जनता उसे स्वीकार करती है, और जनता तभी स्वीकार करती है जब धर्म और न्याय उसके शासन के मूल हों।

शतपथ ब्राह्मण में राष्ट्र को समृद्धि का पर्याय माना गया है। राष्ट्र की समृद्धि केवल भौतिक संसाधनों पर आधारित नहीं, बल्कि नीतिपूर्ण शासन, धार्मिक मर्यादा, सामाजिक शुद्धता और कृषियोग्य भूमि आदि सामूहिक तत्वों से संयुक्त होती है। 'अपरिमित समृद्धम् वै राष्ट्रम्' यह वाक्य इस काल की राष्ट्र-दृष्टि को स्पष्ट करता है। इसके साथ ही चौकी (आसंदी), उदुम्बर और मूंज का उल्लेख राष्ट्र का प्रतीकात्मक अर्थ

विकसित करता है। राजा उदुम्बर की चौकी पर बैठता था। उदुम्बर शक्ति का प्रतीक है। इसका आशय यह है कि राष्ट्र केवल भूमि का नाम नहीं, राष्ट्र सत्ता का स्वरूप है और शक्तिपरक शासन तभी स्थायी होता है जब वह धर्म के अधीन हो।

इस काल में शासन के आठ रूपों का ऐतरेय ब्राह्मण में उल्लेख आता है। यह उल्लेख भारतीय राजनीतिक चिन्तन की प्रौढ़ता का प्रमाण है। साम्राज्य, भौज्य, स्वराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य, महाराज्य, आधिपत्य और सामन्त-सत्ता का वर्णन इस बात को सामने रखता है कि शासन केवल एक प्रकार का नहीं था, अपितु विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों, सांस्कृतिक विशेषताओं और सामाजिक अवस्थाओं में शासन विविध रूप धारण करता था। वैराज्य में समूह-नेतृत्व था, पारमेष्ठ्य में धर्म की प्रधानता थी, भौज्य में भौगोलिक सीमा का अनुशासन था, साम्राज्य में नैतिक मण्डलिक-पद्धति थी। यह सब भारत की शासन-परम्परा को व्यापक विचार-शक्ति वाला सिद्ध करता है।

उपनिषदों में राष्ट्र की अवधारणा अधिक दार्शनिक रूप लेती है। शासन का आधार 'ऋत' है। ऋत का अर्थ है विश्व-नियम, न्याय, सत्य और धर्म। उपनिषद यह व्यवस्था प्रस्तुत करते हैं कि राजा का कार्य राज्य को भोगना नहीं, बल्कि धर्म की रक्षा करना है। राजा स्वयं धर्म का अनुयायी है और धर्म, सत्ता का स्वामी। राजा केवल वह है जो राष्ट्र के सर्वांगीण हित में न्याय और समता से शासन करे। राष्ट्र का मूल स्रोत सत्ता नहीं, धर्म है। शासन धर्म से निष्पन्न है और धर्म समाज का नैतिक स्वरूप है।

आरण्यकों में राष्ट्र की संकल्पना और उच्चतर होती है। यहाँ शक्ति का प्रयोग नहीं, बल्कि तप, आत्म-नियंत्रण, सत्य और शुद्ध शासन का आदर्श राष्ट्र-नैतिकता का आधार बनता है। यह प्रतिपादित किया जाता है कि राष्ट्र तभी स्थायी है जब शासन धर्म-आधारित हो। शासन यदि लोभ, स्वार्थ और क्रूरता पर आधारित हो तो वह राष्ट्र को विभाजित करता है, पर शासन यदि ऋत-आधारित हो तो वह राष्ट्र को एकात्म करता है।

अतः कुल मिलाकर ब्राह्मण से लेकर आरण्यक काल तक राष्ट्र का विकास पूर्ण राजनीतिक सत्ता नहीं, बल्कि उच्च नैतिक सांस्कृतिक व्यवस्था के रूप में हुआ। वेदों से प्रारम्भ होकर ब्राह्मणों में परिपक्व हुआ, उपनिषदों में दर्शन बना और आरण्यकों में अध्यात्मिक शासन का आदर्श प्राप्त किया। यह सब प्रमाणित करता है कि भारत में राष्ट्र का विकास केवल भूमि और जाति के आधार पर नहीं, वरन् धर्म, ऋत, न्याय, लोकहित और शक्ति के संतुलन पर आधारित था। यह विकास अनायास नहीं, एक सुव्यवस्थित ऐतिहासिक और दार्शनिक प्रक्रिया थी, जिसमें व्यक्ति नहीं, समष्टि का हित सर्वोपरि था।

उपनिषद

उपनिषदों में राष्ट्र की श्रेष्ठता, उसकी उन्नति और सामर्थ्य का मूल आधार ज्ञान ही माना गया। उपनिषदों के विचारों में यह स्पष्ट है कि राष्ट्र के निर्माण में क्षत्रिय ही सर्वोच्च भूमिका निभाते हैं, परन्तु उनका यह सामर्थ्य केवल बल, पराक्रम और युद्ध कौशल तक सीमित नहीं था, बल्कि उनका ज्ञान और ब्रह्मविद्या के प्रति झुकाव उन्हें और अधिक महान बनाता था। उपनिषदों का यह स्वरूप बताता है कि एक राष्ट्र तभी आदर्श बन सकता है जब उसके शासक, उसके राजा, केवल शासन करने वाले नहीं बल्कि दार्शनिक, ब्रह्मज्ञानी और आध्यात्मिक पुरुष हों।

उपनिषदों में वर्णित है कि क्षत्रियों को केवल रक्षा और शासन के अधिकार तक सीमित नहीं माना गया बल्कि उन्हें ब्रह्मविद्या के साधक, भक्ति के मार्ग पर अग्रसर और ऋषियों के तुल्य सम्मानित व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार किया गया। उनके लिए प्रतिष्ठा का मूल मापदण्ड ज्ञान और सत्य का अनुशीलन था। इस प्रकार क्षत्रिय राजाओं ने अपने ज्ञान, सत्य, न्याय और आत्मिक शक्ति द्वारा राष्ट्र में उच्च स्थान प्राप्त किया।

बृहदारण्यक उपनिषद का प्रसिद्ध मन्त्र स्पष्ट घोषणा करता है कि आरम्भ में केवल ब्रह्म ही था, वही एकमात्र सत्ता स्वयं से विकसित होकर क्षत्रिय रूपों में प्रकट हुआ। ब्रह्म ने अपनी श्रेष्ठतम रूप में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु आदि देवताओं को उत्पन्न किया और उन्हें 'क्षत्र' का रूप प्रदान किया। इसलिए क्षत्रिय से ऊपर और कोई नहीं। इसी मन्त्र में यह भी कहा गया कि ब्राह्मण भी क्षत्रिय की अधिष्ठान शक्ति की उपासना करता है। राजसूय यज्ञ में राजा की प्रतिष्ठा की पुष्टि इसी तथ्य से होती है। ब्रह्म ही क्षत्रिय की जन्मभूमि है और यह भी कहा गया है कि यदि राजा अपने परमोच्च स्थान को प्राप्त कर भी ले, तो भी अन्ततः उसे ब्रह्म की शरण में ही जाना होता है, क्योंकि वही उसका वास्तविक आधार है। यदि राजा इस आधार को भूलकर अपनी महिमा को असत्य में परिवर्तित करे, तो इसका परिणाम उसके पतन के रूप में सामने आता है। इस मन्त्र का भाव स्पष्ट है कि क्षत्रिय की वास्तविक शक्ति ब्रह्मविद्या है, शासन तो उसका बाह्य स्वरूप है।

उपनिषदकाल का समाज इस बात का प्रमाण है कि क्षत्रिय राजा केवल शस्त्र और प्रजा-पालन तक सीमित नहीं थे, बल्कि दार्शनिक, विद्वान और ब्रह्मवाद के प्रचारक भी थे। इतिहास और शास्त्र दोनों इस दिशा में प्रमाणित करते हैं कि अनेक ब्राह्मण विद्वान वास्तव में क्षत्रिय राजाओं के शिष्य थे। ज्ञान की यह परम्परा बताती है कि उस युग में क्षत्रिय वर्ग शिक्षा, विद्या और आध्यात्मिकता का केन्द्र था। पृष्ठ क्रमांक 44 में इसी वास्तविकता का दर्शन मिलता है कि क्षत्रिय राजा राष्ट्र की रक्षा के साथ-साथ आत्मिक सामर्थ्य से राष्ट्र के संरक्षक थे। उनके शासन में व्यसन, विलासिता और पतन का अभाव था; राष्ट्र सुख, समृद्धि और धैर्य का केन्द्र था। यही कारण है कि उस राष्ट्र में पाप, अधर्म और कुटिलता का स्थान नहीं था। उस युग को 'ब्रह्म राष्ट्र' कहना अतिशयोक्ति नहीं बल्कि वास्तविकता थी।

वेदों से आरण्यक ग्रन्थों का उद्भव हुआ। आरण्यक वेदों का सारतत्त्व हैं, जैसे औषधियां पीसकर उनसे अमृत निकाला जाता है। महाभारत (1.265) में कहा गया है कि आरण्यक वेद से उसी प्रकार निकाले गये हैं जैसे औषधियों से अमृत निकाला जाता है। गोपथ ब्राह्मण में आरण्यक को 'रहस्य' कहा गया है। निरुक्त की वृत्ति में दुर्गाचार्य ने आरण्यक को 'रहस्य ब्राह्मण' के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आरण्यक और उपनिषद दोनों 'गोपनीय', 'आन्तरिक' और 'ज्ञान परक' परम्परा में आते हैं। इसलिए कभी-कभी बृहदारण्यक जैसे ग्रन्थ को 'बृहदारण्यक उपनिषद' भी कहा जाता है।

उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है— अस्तित्व, सत्य, आत्मा और परम कारण की खोज। वहीं आरण्यक का मुख्य विषय प्राण विद्या, प्रतीक योजना और उपासना के गूढ़ रहस्यों का विवेचन है। दोनों का स्वरूप रहस्यपूर्ण है, दोनों बाह्य कर्मकाण्ड से परे आन्तरिक ज्ञान और आत्मानुभूति की ओर ले जाते हैं।

डॉ. राधाकृष्णन के मतानुसार आरण्यक का स्थान ब्राह्मणों और उपनिषदों के मध्य का है— न पूर्ण रूप से कर्मकाण्ड और न पूर्ण रूप से ब्रह्मविद्या। जब गृहस्थ वृद्ध होकर वन में जाता है, तब उसे कर्मकाण्ड से अधिक आत्मिक शांति, मनन, ध्यान और आत्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है। आरण्यक उस

अवस्था का मार्गदर्शन करते हैं। इसलिए आरण्यक को एक संक्रमण-ग्रन्थ भी कहा जा सकता है, जो कर्म से दर्शन, बाह्य से आन्तरिक और उपासना से आत्मविद्या की ओर मार्ग प्रशस्त करता है।

रामायण और महाभारत काल में 'राष्ट्र' शब्द की अवधारणा

रामायण और महाभारत में राष्ट्र केवल भौगोलिक क्षेत्र नहीं, बल्कि धर्म, कर्तव्य, नीति, सुरक्षा और संस्कृति पर आधारित एक जीवंत संगठन था। राष्ट्र का मूल तत्व प्रजा और न्यायपूर्ण शासन था, और उसका केंद्रबिंदु 'राजा' को माना गया।

रामायण (मुख्यतः अयोध्या और युद्धकाण्ड) में स्पष्ट संकेत है कि राष्ट्र का उत्थान राजा के चरित्र, नीति और शासन पर निर्भर करता है। राजा को प्रजा का रक्षक, मित्र, पिता समान तथा धर्म-संरक्षक माना गया है। उसके गुण—सत्य, धर्म, विवेक, साहस, परोपकार और न्याय—ऐसे बताए गए जो राष्ट्र को समृद्ध और सुरक्षित बनाए रखते हैं।

राजा के साथ-साथ अमात्य (मंत्री), सेनापति, और दूत के चयन के लिए उच्च नैतिक एवं बौद्धिक मानकों का उल्लेख भी मिलता है। शासन-संस्था का यह स्वरूप राष्ट्र को केवल राजनीतिक संगठित इकाई नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एवं नैतिक शक्ति बनाता है। अयोग्य अथवा कर्कश, अनैतिक, स्वेच्छाचारी व्यक्ति को राजसिंहासन पर बैठाना राष्ट्र के लिए हानिकारक माना गया; इसलिए वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट चेतावनी दी गई है कि अराजक राष्ट्र में धर्म, व्यापार, यज्ञ, कृषि और न्याय सब नष्ट हो जाते हैं।

इसी प्रकार महाभारत में राष्ट्र का मूल धर्मराज्य की संकल्पना पर आधारित है। युधिष्ठिर से लेकर विदुर-नीति तक राष्ट्र-धर्म का विधान मिलता है, जो प्रजा संरक्षण, न्याय और आर्थिक उन्नति पर बल देता है।

महाभारत कालीन 'राष्ट्र' की अवधारणा

महर्षि वेदव्यास-कृत महाभारत में राष्ट्र की कल्पना केवल भूमि अथवा राजसत्ता तक सीमित नहीं, बल्कि धर्म, संस्कृति, आर्थिक समृद्धि, सामाजिक सुव्यवस्था, प्रजासुरक्षा तथा न्याय तक विस्तृत है। यह ग्रन्थ भारतीय राष्ट्रीय तत्वों का विश्वकोष है, जिसमें राष्ट्र के प्रति गौरव, जिम्मेदारी, अनुशासन, पुनर्निर्माण और कल्याण का भाव स्पष्ट दिखाई देता है।

महाभारत में राजाओं से यह अपेक्षा की गई है कि वे प्रजा के हित, राष्ट्र की समृद्धि, सुरक्षा और सांस्कृतिक उन्नति में निरन्तर तत्पर रहें। राज्य ऐसा हो जिसमें आर्थिक व्यवस्था सुदृढ़ हो, धार्मिक-सांस्कृतिक जीवन सुरक्षित हो तथा प्रजा में सुख-शांति का वातावरण रहे। अन्य राष्ट्रों के लिए आदर्श और अनुकरणीय राष्ट्र-रूप तैयार करने की प्रेरणा भी दी गई है। राष्ट्र को पीड़ा न पहुँचे, इस हेतु राजा को सावधान, बुद्धिमान और विवेकशील रहना चाहिए—ऐसी शिक्षा महाभारत में बार-बार आती है।

महाभारत का एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इसमें भारतवर्ष का भूगोल, नदियाँ, प्रदेश, जनपद और व्यापक सांस्कृतिक एकता का चित्रण मिलता है, जिससे 'भारतीयता' का भाव सुदृढ़ होता है।

मनुस्मृति में राष्ट्र के स्वरूप को विराट पुरुष की तरह सात अंगों वाला माना गया—राजा (स्वामी),

मंत्री (अमात्य), नगर–व्यवस्था (पुर), जनपद, कोश (धन), दण्ड (सेना) और मित्र। महाभारत भी इसी सप्तात्मक राष्ट्र स्वरूप की पुष्टि करता है। राष्ट्र के ये सभी अंग मिलकर उसकी स्थिरता, सुरक्षा और प्रगति सुनिश्चित करते हैं। यदि इनमें से एक अंग भी विकृत हो जाए, तो सम्पूर्ण राष्ट्र अस्थिर होने लगता है। इस प्रकार महाभारत–कालीन राष्ट्र–दृष्टि में राज्य की सफलता उसके इन अंगों के सामंजस्य पर आधारित मानी गई है।

निष्कर्षत: वैदिक युग के पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थों में राष्ट्र–धारणा का वास्तविक विकास दिखाई देता है। प्रारम्भ में ये केवल घूमते हुए कबीले थे, किंतु समय के साथ इन्हीं से स्थायी जनपद और राज्य बने। शतपथ ब्राह्मण में ग्राम अपने नेता के साथ चलता हुआ वर्णित है, जिससे राजनीतिक संगठन का प्रारम्भिक रूप स्पष्ट होता है। एतरेय और शांखायन ब्राह्मणों में सुव्यवस्थित राजसत्ता, राजसूय–अश्वमेध आदि यज्ञ तथा सम्राट, महाराज, गृह्यति आदि पदनामों का उल्लेख मिलता है, जो पूर्ण विकसित राज्य व्यवस्था का प्रमाण है।

इस प्रकार वैदिक काल के कबीलाई समूह ब्राह्मणों के युग में स्थायी राष्ट्रों में परिवर्तित हुए। इन राष्ट्रों के पास शासन, पुरोहित, यज्ञ, भूमि, सत्ता और आर्थिक संरचना उपलब्ध थी। शतपथ ब्राह्मण में राष्ट्र को 'अपरिमित समृद्ध' कहा गया है, जिससे उसकी शक्ति और सम्पन्नता का बोध होता है। अत: निष्कर्ष यही है कि ब्राह्मण, उपनिषद् और आरण्यक काल में राष्ट्र की अवधारणा पूर्ण रूप से विकसित हो चुकी थी और भारतीय राष्ट्रीय जीवन की स्पष्ट संरचना स्थापित हो गई थी।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. *Kautilya Arthashastra "Penguin Random House India (Penguin Classics), 2000*
2. *अर्थशास्त्र (संस्कृत / हिंदी संस्करण), चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2017*
3. *धर्मशास्त्र का इतिहास - भाग 2, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 1966*
4. *मनुस्मृति (हिन्दी अनुवाद) डायमंड पॉकेट बुक्स, 2004*
5. *ऐतरेयब्राह्मण, अध्याय 40, खण्ड 3.26.*
6. *पी.वी. काणे, धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग–2.*
7. *अथर्ववेद, काण्ड 1, सूक्त 29, मन्त्र 1.*
8. *बृहत् हिन्दी कोष*
9. *डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा, The Etymology of Yaska, पृ. 14.*
10. *तैत्तिरीय संहिता, 1.8.11.1.*
11. *यजुर्वेद (माध्यंदिन संहिता), 10.3.*
12. *ऋग्वेद, 1.89.4*

13. *अथर्ववेद, 12.1 तथा 12.1.63.*

14. *डॉ. विजय बहादुर राव, उत्तरवैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ. 162.*

15. *वैदिक इंडेक्स, भाग-2 (हिन्दी), पृ. 308-309.*

16. *ऐतरेय ब्राह्मण, 8.15.*

17. *बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.11.*

18. *डॉ. राधा कृष्णन, भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृ. 59*

19. *वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, 12.30-33*

20. *शुक्रनीति, 1.61*